सनातन संविधान

राजनीति में अधिकार

*

संकलन कर्त्ता-

स्वामी सदानन्द सरस्वती

वेदान्ती स्वामी

श्री करपात्र धाम, केदार घाट

वाराणसी

प्रकाशक :
श्री वेदान्ती स्वामी
धर्मपीठ
श्री करपात्र धाम
केदारघाट, वाराणसी

सहायतार्थ—५)००

मुद्रक सम्पादक—
चन्द्रोदय मिश्र
मधुसूदन प्रेस
बी० २/२२५ भदैनी
वाराणसी

"

जब तक ईश्वर मृत न हो जाय या अवकाश ग्रहण कर अपना अधिकार हस्तान्तरित न कर दे अथवा वह पराजित न कर दिया जाय तब तक उसके विधान में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को नहीं है। आज तो हाईकोर्ट प्रिवी कौंसिल मे वचनों का ही अर्थ किया जाता है मनमानी का कोई साहस नही करता।

लौकिक विधान निर्माता अल्पज्ञ होता है उसके निर्मित विधान में फिर भी त्रुटि रहती है, ईश्वरीय विधान में सर्वथा त्रुटि नहीं रहती। इस अर्थ में आज भी हिन्दूओं का विधान वेद ही है।

इन विधानों के रक्षार्थ नास्तिकों के हाथ से राजनीति का उद्धार करने-योग्य, धार्मिक और सत्पुरुषों के हाथ मैं राजनीति लाने के लिए विद्वानों का अधिकार एवं प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है।

"

सनातन संविधान

हिन्दुओं के विश्वासानुसार उनका विधान सनातन है। उन्हें नये विधान बनाने की आवश्यकता नहीं। यह जगत् जड़ परमाणुओं एवं विद्युत्कणों अथवा जड़ प्रकृतिमात्र से नहीं बना। जब रेल, तार, रेडियो, वायुयान, टैंक, तोप, मशीनगन, परमाणु-बम आदि बनाने के लिये किसी बुद्धि एवं मस्तिष्कसम्पन्न चेतन मनुष्य की कल्पना की जाती हैं, तब फिर आकाश, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, समुद्र, शुक, पिक, मयुर, हंस, वन, लता, पुष्प स्तवक, फलादिपूर्ण भूमण्डल, मनुष्य तथा उसके मस्तिष्क, बुद्धि, शरीरेन्द्रियादि विविध वैचित्र्योपेत प्रपञ्च बनानेवाला आवश्यक ही कोई चेतन और सर्वज्ञ चेतन होना चाहिये। कोई भी चेतन बुद्धिपूर्वक ही कार्य रचना कर सकता है। कुम्भकार दण्डचक्र चीवरादि सामग्री · सम्पादन और ज्ञानपूर्वक ही कुम्भ का निर्माण करता है। इसीतरह ईश्वर भी सर्वज्ञानपूर्वक ही सर्व प्रपञ्च का निर्माण करता है। उसके सर्वज्ञान में सूक्ष्म शब्दों का अनुवेध मानना सर्वसम्मत है। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" (वाक्यपदीय) अर्थात् ऐसा कोई भी प्रत्यय, ज्ञान-संकल्प-विचार नहीं, जिसमें परिचित भाषा के सूक्ष्म शब्द न हों। इस दृष्टि से ईश्वर के सृष्टिमूलभूत विज्ञान में भी किन्हीं शब्दों का अनुवेध अवश्य होना चाहिए। वे ही सूक्ष्म शब्द वेद हैं, वे ही वेद उसके विधान भी हैं।

संसार में ग्रीक, लैटिन, जेन्द, संस्कृत आदि भाषाएं ही सर्व

प्राचीन भाषाएं हैं। यद्यपि कहा जाता है कि ये भाषाएँ परस्पर एक दूसरे की बहन हैं, इनकी जननी कोई अन्य भाषा रही होगी, जो अब अनुपलब्ध और अविज्ञात है। इन भाषाओं में विलक्षण समता देखकर लोग अनुमान करते हैं कि कभी अवश्य इन भाषओं के भाषी लोग किसी एक ही स्थान पर रहते रहे होंगे और वे एक भाषा के ही भाषी रहे होंगे, परन्तु आज उस भाषा का पता नहीं लगता। देश में भी मतभेद है, पश्चिमोत्तर एशिया, उत्तरी ध्रुव आदि देशों का अनुमान किया जाता है। जैसे-जैसे वहाँ से लोग एक दूसरे दल से अलग होकर दूर होते गये, वैसे-वैसे उनमें भेद पड़ता गया। परन्तु थोड़ा सा ही विचार का कष्ट करने विदिय हो जायेगा कि वह जननी भाषा—जिसके सम्बन्ध में मृत हो जाने कि कल्पना की जाती है—संस्कृत भाषा ही हैं। इसे अन्य भाषओं की भगिनी न मानकर जननी मानना ही उचित है। इसके विशाल प्रकृति, प्रत्यय उपसर्ग तथा अक्षय शब्दकोश, अप्रतिम व्याकरण तथा साहित्य संसार की निधि हैं। इसमें अपार क्षमता है। साथ ही इससे प्राचीन किसी भाषा के होने में प्रमाण नहीं मिलता। आधुनिक ऐतिहासिक भी ऋग्वेद को दुनिया की सबसे पुरानी पुस्तक मानते हैं। उसे कम से कम पांच हजार वर्ष का माना जाता है। मोहन्जोदड़ो तथा हरप्पा, की खुदाई में मिली हुई वस्तुओं के आधार पर तो अब लोग यह भी मानने लगे हैं कि वहाँकी वस्तुएँ कम से कम उस सभ्यता को, जिसकी वे वस्तुएं हैं, पन्द्रह हजार वर्ष पुरानी सिद्ध करती हैं। वहां के शिल्प चित्रों के रङ्ग, बर्तन, कुण्ड यज्ञपात्र तथा अन्य वस्तुओं से विदित होता है कि वे वैदिक सभ्यता की वस्तुएं हैं। कई लोग उन्हे सुमेरियन सभ्यता की वस्तु कहते हैं, परन्तु अन्य विद्वान सुमेरियन सभ्यता

को भी वैदिक सभ्यता की ही देन कहते हैं। कुछ भी हो, जहां आधुनिक पाश्चात्य सभ्यतावाले लोग सम्पूर्ण दुनिया को ही पांच हजार वर्ष की मानते थे और इसी में ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक दोनों ही काल ठूंसते थे; वहां अब वैदिक सभ्यता १५ हजार वर्ष की पुरानी सिद्ध होती है यह कम प्रसन्नता की बात नहीं। वस्तुतस्तु आजकल के वैज्ञानिक भूमण्डल को ही लाखों नहीं, करोड़ों वर्ष का मानने लग गये हैं। पहले सूर्यमण्डल था। फिर उससे टुकड़ा टूटकर गिरा, वह ठण्डा होते होते चन्द्रमण्डल बन गया दूसरा टुकड़ा टूटकर गिरा, वह भूमण्डल बना, उस पर भाप, बादल, वृष्टि, वनस्पति, जानवर, वानर तथा मनुष्य का क्रमिक विकाश हुआ और आगे भी हो रहा है, विकासवादियों की इस युक्ति के अनुसार भी सूर्यमण्डल कैसे बना और कब बना, उसकी अब कितनी आयु है आदि प्रश्न बने ही रह जाते हैं।

आधुनिक विकासवादी तो अब प्रकृति की कल्पना भी कर सके हैं, परन्तु वैदिकों का निर्णय तो उनसे बहुत ही पुराना है। उनके सिद्धान्तानुसार तो किसी भी कार्यरचना में प्रकाश, हलचल और अवष्टम्भ (रुकावट) का होना आनिवार्य है, इनमें से एक के बिना भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। हलचल ही चलती रहे, रुकावट न हो तो, कोई चित्र या वस्तु न बनेगी। उसके लिए तो कहीं कुछ हलचल और कहीं कुछ रुकावट हो, तभी कार्यसिद्धि होती हैं। वही प्रकाश सत्व, हलचल रज एवं अवष्टम्भ तम है। इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति और वैषम्यावस्था विकृति है। प्रकृति में साम्य वैषम्य भी स्वतः नहीं किन्तु किसी चेतन की ज्ञप्ति और इच्छा से ही सम्भव है। 'जानाति, इच्छति अथ करोति' यह सिद्धान्त है। ज्ञान और इच्छाके अनन्तर ही कृति

होती है, अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान के ज्ञान और इच्छा से ही उस की प्रेरणा या कृति से ही प्रकृति में भी वैषम्य, साम्य आदि होते हैं। जिसमें सबका अन्तर्भाव होता हो और जो किसी एक में समाप्त न हो, वही परमकारण और अधिष्ठान है। जैसे मृत्तिका के विकार घट, शराबादि में मृत्तिका उपलब्ध होती है, वह किसी एक में समाप्त नहीं, परन्तु उसी में घट, शरावादि सब अन्तर्गत हो जाते हैं। इन्हीं सत्व रज, तप, प्रकाश; चाञ्चल्य, अवष्टम्भ सब में सत्ता है, स्फूर्ति है। सत्ता-स्फूर्ति के बिना सभी निःसत्व और निःस्फूर्ति हो जाते हैं। फिर तो उनकी सिद्धि भी असम्भव हो जाती है। अतः सत्ता स्फूर्ति सब में है, उनके बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता और सत्ता-स्फूर्ति में सबका अन्तर्भाव हो जाता है वही सबका अधिष्ठान, कारण, प्रकाशक है, वही उपादान और निमित्त भी है। अतएव वेदान्त में अभिन्नानमित्तोपादान कारणत्व का सिद्धान्त है।

उस कारणभूत सत्ता, स्फूर्ति एवं आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द परमेश्वर के सृष्टि मूल ज्ञान में अनुविद्ध शब्द ही वैदिक शब्द हैं। फिर तो सृष्टि को पांच छः हजार वर्षों की मानना नितान्त भ्रम सिद्ध हो जाता हैं। जैसे बीज़ से पहले अंकुर और अंकुर से पहले बीज मानना पड़ता है, बीजांकुरकी परम्परा अनादि माननी पड़ती है वैसे ही प्रस्वास (सोने) से प्रथम जागरण और जागरण से प्रथम प्रस्वास जन्म से प्रथम मरण और मरण से प्रथम जन्म एवं सृष्टि के प्रथम प्रलय और प्रलय के प्रथम सृष्टि माननी पड़ती हैं। कर्म से प्रथम जन्म और जन्म से प्रथम कर्म मानना पड़ता है कर्मरूप कारण की विचित्रता के बिना जन्मरूप कार्य की विचित्रता ही सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार स्वास-जागर, जन्म-मरण सृष्टि-प्रलय, जन्म-कर्म की अनादिता माननी पड़ती है।

फिर तो अनादि प्रपञ्च का अनादि कर्ता परमेश्वर अनादि ही सिद्ध होता है। उसका विज्ञान और विज्ञानानुविद्ध शब्द वेद भी अनादि ही सिद्ध होते हैं।

जो लोग वेद को पांच हजार वर्ष का या कुछ और पुराना सिद्ध करना चाहते हैं, उनकी यह दृष्टि केवल इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि किसी भी घटना के पश्चात उसका कहीं उल्लेख हो सकता है। घटना के पहले, किसी व्यक्ति के उत्पन्न होने से पहले, उसके नाम या घटना का उल्लेख किसी ग्रन्थ में नहीं हो सकता। किसी पुस्तक में हिटलर का नाम देखनेवाला मनुष्य यही समझेगा कि हिटलर का जन्म होने के बाद ही यह पुस्तक बनी होगी। इसी तरह वेद में विभिन्न घटनाओं, विभिन्न राजाओं, नगरों, नदियों, पर्वतों, धान्यो और जानवरों का वर्णन देखकर कोई भी मनुष्य यही समझेगा कि इन घटनाओं, राजाओं आदि के उत्पन्न होने के बाद ये ग्रन्थ लिखे गये होंगे। इस दृष्टि से उन घटनाओं, राजाओं आदि के काल-निर्णय के अनुसार ही वेदों का कालनिर्णय किया जाता है। परन्तु वेद के सम्बन्ध में ठीक इससे विपरीत धारणा बनानी पड़ती है अर्थात् यहां घटनानुसारिणी आख्यायिका या इतिहासोल्लेख नहीं, अपितु इतिहास के अनुसार घटना या व्यक्ति होते हैं। यह कहा जा चुका है कि अन्य भाषाएं चार-पांच हजार वर्ष की हैं, तब ईश्वर के अनादि विज्ञान में उन भाषाओं के शब्दों का अनुवेध कैसे हो सकता है? अतः संस्कृत-भषामय वैदिक शब्दों का ही उसके ज्ञान में अनुवेध मानना युक्त है। इसतरह जब विश्व ईश्वरकृत है और ईश्वर विज्ञान ईश्वरेच्छा व ईश्वरकृति से सम्पन्न है, तब उससे पहले ईश्वर की कृति, उससे पहले ईश्वर की इच्छा, उससे भी पहले ईश्वर का ज्ञान और उस

ज्ञान में अनुविद्ध शब्द भी ज्ञान के साथ ही रहा। जब वे ही शब्द वैदिक शब्द हैं, तब तो शब्दपूर्विका सृष्टि हुई। शब्दानुविद्ध ज्ञान इच्छा एवं कृति से ईश्वर विश्व को बनाता है। फिर तो स्पष्ट ही है कि अर्थपूर्वक शब्द नहीं, अपितु शब्दपूर्वक अर्थ है। घटनापूर्वक आख्यायिका नहीं अपितु आख्यायिकापूर्विका घटना है। तथाच जैसे कुम्भकार अपने मन में कुम्भ शब्द के द्वारा कुम्भज्ञानपूर्वक ही कुम्भ का निर्णय करता है, वैसे ही परमेश्वर वेदशब्दों से ही विश्वज्ञानपूर्वक ही विश्व का निर्माण करता है। मनु कहते हैं— 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।' (१।११) परमेश्वर वेद शब्दों से ही विश्व का निर्माण करता है। यही बात ब्रह्मसूत्र में कही गयी है— शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अर्थात् यदि वेद में वर्णित व्यक्तियों को अनित्य माना जायगा, तो तत्प्रतिपादक वैदिक शब्द में अनित्यता आयेगी, तथाच वेद की नित्यता बाधित होगी, तो इसका उत्तर है कि वेद से ही व्यक्तियों की सृष्टि होती है यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान अर्थात श्रुति स्मृति से सिद्ध है। परमेश्वर ने 'एव' शब्द से वेदों को, 'असृगम' शब्द से मनुष्यों को, 'इन्दवः' शब्द से पितरों को, 'तिरः पवित्रम्' शब्द से ग्रहोंको और भूः शब्द से पृथ्वी को बनाया—स भूरिति व्यावहरत्तस्मादभुवमसृजत, एव इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्र विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः। इस तरह ज्ञानपूर्विका शब्दपूर्विका सृष्टि सिद्ध होती है।

यद्यपि लोक में जब कोई वस्तु उत्पन्न होती है, तब उसका नामकरण होता है, तथापि यह अनित्य शब्दों और अर्थों के ही सम्बन्ध में कहा जा सकता है। 'गो' आदि कितने ही शब्द हैं,

जिनका निर्माता उपलब्ध नहीं होता, उन्हें नित्य ही मानना चाहिये। शब्द और अर्थ का सङ्केत करनेवाले को भी सङ्केत के लिए किन्हीं शब्दों का आश्रयण करना ही पड़ता है। ईश्वर भी जिन शब्दों के द्वारा शब्दार्थ का सम्बन्ध बतलाता है, उन शब्दों को प्रथम से ही मानना पड़ेगा। अङ्ग-प्रत्यङ्ग-सङ्केत से अनन्त शब्दों और अर्थों का सम्बन्ध ग्रह होना असम्भव ही है। इस दृष्टि से मूल स्थिति यही है कि ईश्वर के विज्ञान एवं तदनुविद्ध शब्द के अनुसार ही विश्व की सृष्टि होती है। अतः व्यक्तियों या आख्यायिकाओं को देखने मात्र से वेदों के काल का अनुमान नहीं किया जा सकता। योगी ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा भविष्य, भूत सभी जानता है। महर्षि बाल्मीकि अरण्य में स्थित होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म, सन्निकृष्ट सभी घटनाओं का साक्षात्कार करके रामायण लिख सकते हैं तो फिर परमेश्वरीय विज्ञान वेद में सम्पूर्ण वस्तुओं का बोध हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? 'चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥' 'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः। वेदादेव प्रसयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः (मनु १२ ९७-९८), अतएव च नित्यत्वम् (ब्र० सू०), 'अनादि-निधना नित्यता' इत्यादि वचनों से वेद की नित्यता प्रसिद्ध है।

जब किसी भी छोटे राष्ट्र का भी शासन चलाने के लिए विधान अपेक्षित है, तो फिर अनन्तब्रह्माण्डात्मक जगत् का शासन बिना विधान के कैसे चल सकेगा ? साथ ही जब एक अङ्गुल भूमि एक प्रकाश, एक वृक्ष और उद्यान, कूप, सरोवरादि भी बिना शासक एवं स्वामी के नहीं तब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वन, पर्वत, सागर तथा ब्रह्माण्ड बिना शासक के कैसे होंगे ? इस दृष्टि से

फिर उसका विधान अवश्य होना चाहिये और उसके अनुसार, निग्रहानुसार होता है। जब आगन्तुक नियम्य और नियन्ताओं में आगन्तुक विधान होता है तब सनातन नियम्य-नियन्ताओं के बीच में विधान भी सनातन ही होना चाहिये। इसीलिए वेदरूप विधान को भी सनातन कहागया है। सनातन ईश्वरीय विज्ञानमें अनुबिद्ध होने से और ईश्वरीय निःश्वसित होने से भी वे सनानन हैं। जैसे जीवित होने का लिङ्ग (चिन्ह) ही निःश्वास है, वैसे ही परमेश्वर की सत्ता का लिङ्ग ही वेद है। जब से जबतक प्राणी जीवित होता है, तब से तब तक उसके श्वास भी रहते हैं। इस तरह जब से जबतक ईश्वर है तब से तबतक वेद भी हैं। ईश्वर सनातन है, अतः उसका श्वास भी सनातन है। निःश्वास होने से भी वेद में अकृत्रिमता सिद्ध होती है। सुप्त या प्रतिबुद्ध सर्व अवस्थाओं में श्वास रहता है, वह बुद्धि - प्रयत्ननिरपेक्ष है, अतएव यह अकृत्रिम तथा अपौरुषेय है। जीव ही क्या ईश्वर की भी बुद्धि या प्रयत्न वेदों के निर्माण में अपेक्षित नहीं होते। ईश्वर बुद्धि प्रयत्न निरपेक्ष होने से सर्वथा अकृत्रिम और पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दूषणों से सर्वथा असंस्पृष्ट होने के कारण वेद स्वतन्त्ररूप से परम प्रमाण है। वस्तुतः वही विश्वका विधान है। अधिकांश भारतीय तो आज भी उसे ही अपना विधान मानते हैं। निष्कर्ष यह है कि सनातन परमात्मा ने सनातन जीवात्माओं को सनातन अभ्युदय एवं परम पद को प्राप्त कराने के लिये अपने निःश्वासभुत एवं नित्यविज्ञानानुविद्ध सनातन वेदों के द्वारा जिस सनातन मार्ग को निर्धारित कर रखा है, वही हिन्दुओं का सतातन वैदिक धर्म है। ,सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे' जीवभूतः सनातनः, छन्दांसि यस्य पर्णानि,

अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्, त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता इत्यादि गीता वचनों से भी परमेश्वर, जीव तथा छन्द (वेद) और धर्म की सनातनता, शाश्वतता सिद्ध है।

हिन्दूधर्मशास्त्रों द्वारा की गयी प्रत्येक व्यवस्था में धार्मिक संस्कारों का सन्निधापन है। गायत्री आदि मन्त्रों द्वारा जो काम किये जाते हैं, वे उन्हीं मन्त्रों के समानार्थक व्यत्यस्त मन्त्रों तथा अन्यान्य भाषामय वाक्यों द्वारा नहीं किये जा सकते और न उनके द्वारा वैसा पुण्य ही उत्पन्न हो सकता है। वे ही मन्त्र वे ही वाक्य तथा वे ही पद्य हों, तथापि पौर्वापर्य का व्युत्क्रम होने अर्थात् पदों एवं वाक्यों के आगे-पीछे हो जाने से वह फल नहीं हो सकता, तो फिर 'राइस बॉल' (चावल का गोला) आदि शब्दों से पिण्ड और खम्भे या स्तम्भ से 'यूप' आदि अर्थ कैसे निकल सकते हैं ? पिण्ड 'यूप' आहवनीय आदि से तत्तत्संस्कारविशिष्ट धार्मिक अर्थ गृहीत होते हैं, अतः मूल वैदिक, आर्ष ग्रन्थों के आधार पर ही हिन्दुओं के धार्मिक, सामाजिक जीवननिर्वाह की व्यवस्था है। लोकदृष्टया यदि कोई निर्विघ्न निर्दोष अन्य मार्ग हो, तोभी आस्तिक हिन्दुओं के लिये यह अमान्य है। श्मशानाग्नि से दाल चावल पक सकते हैं फिर भी आस्तिक उसे ग्राह्य नहीं मानते।

कुछ लोग कहते हैं कि स्मृतियों, पुराणों तथा ऋषियों की विचित्र एवं विभिन्न उक्तियों को देखकर यह मानना चाहिये कि देश, काल, परिस्थिति के अनुसार शास्त्र और नियम बदलते रहते हैं। विभिन्न स्मृतिकारों ने अपने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार धारणपोषणानुकूल जिन नियमों को बनाया, वे नियम शास्त्र हैं। परन्तु यह कहना सर्वथा असङ्गत है। 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'-इत्यादि जैमिनिसूत्रों में यह स्पष्ट है। हाँ,

वेदों के अनुसार ही सब स्मृतियाँ हैं। जैसे आज भी सब सङ्कट और असङ्कट की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए विधान बनाया जाता है, वैसे ही परमेश्वर के नित्य विधान में सब देश, काल, परिस्थितियों का ध्यान रखा गया है। भेद इतना ही है कि लौकिक विधान निर्माता अल्पज्ञ होता है, उसके निर्मित विधान में फिर भी त्रुटि रहती है। ईश्वरीय विधान में सर्वथा त्रुटि नहीं रहती, क्योंकि वह सर्वज्ञ है, अतः आपत्ति-सम्पत्ति-काल-भेद से वेदों में ही जो सूक्ष्म तथा विप्रकीर्णरूप से धर्म कहे गये हैं, उन्हीं का स्मृतिकारों ने सङ्कलन करके स्मृतियां बनायी हैं। 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' श्रुतिविरुद्ध जो भी स्मृति हो, वह त्याज्य है, फिर आज का कोई व्यक्ति वेदविरुद्ध विधान बनाये, तो वह कैसे मान्य होगा? आजतक का 'हिन्दू ला' मिताक्षरा, दायभाग, मनु, याज्ञवल्क्य तथा वेद के आधार पर ही बना है। अभी तक हाईकोर्ट, प्रिवी कौंसिलों में वचनों का अर्थ ही किया जाता है। मनमानी करने का साहस कोई नहीं करता। इस अर्थ में आज भी हिन्दुओं का विधान वेद ही है। जबतक वह ईश्वर मृत न हो जाय या अवकाश ग्रहणकर अपना अधिकार हस्तान्तरित न कर दे अथवा वह पराजित न कर दिया जाय या उसे ही अपने विधान में त्रुटि न मालूम हो, तब तक उसके विधान में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को कैसे हो सकता है? ईश्वर नित्य है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, अतः पूर्वोक्त अवस्थाएं उसमें सम्भव नहीं, फिर उसके विधान को कौन बदल सकता है?

इसके अतिरिक्त फल देनेवाला ही धर्माधर्म बदल सकता है, फल ईश्वर से भिन्न कोई भी व्यक्ति या समूह नहीं दे सकता, अतः किसी को धर्माधर्म बदलने का भी अधिकार नहीं। वहाँ पत्रों,

व्यक्तियों की सम्पूर्ण सम्मतियाँ सर्वथा बेकार होती हैं। धर्माधर्म के बदलने न बदलने में फलदाता परमेश्वर की ही सम्मति मुख्य है, उसके हस्ताक्षर या सम्मति के बिना अर्बुदों महाविद्वानों की सम्मति भी व्यर्थ है। अनादि अपौरुषेय वेद ही उसका निःश्वास भूत वचन एवं नित्यज्ञानानुविद्ध शब्दराशि है, तद्विरुद्ध सभी सम्मतियां हानिकर हैं। कोई भी व्यक्ति अपने ही जन्म-कर्म नहीं जानत और जाने तो भी फल पाना उसके हाथ की बात नहीं ऐसी स्थिति में सगोत्र, अन्तर्जातिविवाह से पुण्य होगा या पाप, नरक मिलेगा या स्वर्ग इस सम्बन्ध में ईश्वर से भिन्न सभी अनभिज्ञ ही हैं। ईश्वर ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को जानता है, वही एक-एक ब्रह्माण्ड के अनन्त जीवों तथा एक-एक जीवों के अनन्तानन्त जन्म को जानता है। वही एक-एक जन्म के अनन्त कर्मों व एकैक कर्मों के विलक्षण अपरिगणित विचित्र फलों को जानता है और वही फलप्रदान की शक्ति भी रखता है अतः उसका विधान ही धर्माधर्म में प्रमाण है, इसलिये हिन्दू वेद और वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों को ही अपना विधान मानते हैं और उस विधान के विपरीत परिवर्तन का अधिकार किसी का भी नहीं मानते। ईश्वर एवं उसके अवतार राम, कृष्णादि तथा वशिष्ठ, मनु आदि भी उसीका पालन एवं उपदेश करते हैं, उसमें परिवर्तन करने का अधिकार उन्हे भी नहीं, इसलिए निःश्वासवत् ईश्वरीयबुद्धि प्रयत्नानपेक्ष होने से वेदों की अकृत्रिमता और अपौरुषेयता कही गयी है। फिर किसी अन्य व्यक्ति को तद्विरुद्ध विधान बनाने का तो हक ही प्राप्त नहीं है। इतना ही क्यों प्रत्येक राष्ट्र तथा अन्ताराष्ट्रिय जगत का यह नियम है कि कोई भी शासन किसी धर्मपर हस्तक्षेप न करे स.रा.सं. ऐसी घोषणा है। भारत के नवनिर्मित विधान की मूलभूत

घोषणा में यह बात मान ली गयी है कि किसी धर्म पर सरकार की ओर से हस्तक्षेप न किया जायगा। इतना ही नहीं, ईसाई, मुस्लिम आदि धर्मों पर अहस्तक्षेप की नीति बर्ती भी जा रही है परन्तु हिन्दुओं के धर्म पर हस्तक्षेप किया जा रहा है। फिर भी अहस्तक्षेप की नीति के पोषणार्थ कहा जाता है कि विवाह दायभागादि धर्म ही नही, वे तो सामाजिक वस्तुएँ हैं। परन्तु स्पष्ट बात तो यह है कि तत्तद्धर्मों की व्याख्या तत्तत सम्प्रदायों के धर्मग्रंथों और धर्माचार्यों के अनुसार होना चाहिये। इस दृष्टि से हिन्दूधर्म की व्याख्या के अनुसार हो, तो स्पष्ट ही विदित होगा कि हिन्दूकोड के द्वारा हिन्दूधर्म पर आक्रमण किया गया है। आश्चर्य की बात तो तब होती है जब गोवध जैसे जघन्य कृत्य को मुसलमानों का धर्म मानकर उसे बन्द करने का साहस नहीं पड़ता परन्तु हिन्दुओं के विवाह दायभाग मन्दिरादि शुद्ध धार्मिक वस्तुओं को भी सामाजिक कह कर उन पर बलात् आक्रमण किया जा रहा है।

राजनीति में अधिकार

कई लोग कहते हैं कि विद्वानों, महात्माओं को राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए, परन्तु राजनीति का विद्वान् होना चाहिए। वे समारोह के साथ सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि राजनीति का विद्वान् होना ही विद्वान का अन्तिम कृत्य है, पर प्रत्यक्ष राज-नीति में भाग लेना नहीं। वे समर्थ रामदास और चाणक्य की प्रशंसा करते हुए भी उनके कर्तृत्व को दुर्लक्ष्य करते हैं। वे लोग

'मज्जेत त्रयी दण्डनीतौ हतायाम' (म० शा० ६३/२८) का भी यही अर्थ करते हैं कि राजनीति के जाने बिना त्रयी डूब जाती है। पर 'दण्डनीति' का 'दण्डनीति ज्ञान' अर्थ करना असंगत है। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि ब्रह्मज्ञान से भिन्न सभी ज्ञान पराङ्ग ही होते हैं, स्वतन्त्र नहीं। भट्टपादकुमारिल का स्पष्ट कहना है कि 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते पराङ्ग चात्मविज्ञानादन्यमित्यव धार्यताम्।। (तन्त्रवार्तिक)

पीछे कहा गया है कि सक्रिय विद्वानों से ही राजा को आन्वीक्षिकी, त्रयीवार्ता एवं दण्डनीति का विचार करना चाहिए-'तद्विद्यैस्तात्क्रयोणेतैश्चिन्तयेत' (क० नी० २।१)

ब्रह्मात्मविज्ञान तो स्वसत्तामात्र से अविद्या, तत्कार्य्य का निवर्तक होने से पुरुषार्थ रूप है। ऐसे कतिपय स्थलों को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र ही ज्ञान कर्तृत्व के बिना सफल नहीं होता। 'जानाति इच्छति भय करोति' यह क्रम प्रसिद्ध है। जानने से इच्छा होती है, इच्छा से क्रिया होती है। 'यः क्रियावान स पण्डितः' (सुभा० म०) की कहावत प्रसिद्ध ही है। प्रयोग हीन शिल्प विज्ञान व शस्त्रादि विज्ञान के तुल्य प्रयोगहीन राजनीति विज्ञान भी व्यर्थ ही रहता है। क्रियाहीन तर्क वितर्क एवं ज्ञान विज्ञान वाले ऋषियों की कमी न थी। फिर भी ऋषियों का वध चालू था। रक्तघट का उपहार देने पर भी रावण को सन्तोष नही हुआ था। ऋषियों की अस्थियों का पहाड़ लग गया था।

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अतिदाया।
निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुबीर नयन जल छाये
[रामचरितमानस अ. का.]

उस समय विश्वामित्र की ही सक्रिय राजनीति सफल हुई। उन्हीं के द्वारा राम मैदान में आये और दुष्टों का दर्प-दलन करके त्रयी - धर्म की रक्षा एवं साधु सत्पुरुषों का पोषण किया। हाँ, जहाँ राजनीति के योग्य प्रयोक्ता एवं प्रयोग-साधन ठीक उपलब्ध हों, वहाँ विद्वान् केवल उपदेश मात्र कर सकता है, परन्तु जहां प्रयोक्ता, प्रयोग - साधन नहीं वहां उनका अन्वेषण एवं निर्माण भी विद्वान् का ही काम है। राजा के अभाव में यह सब उत्तरदायित्व विद्वान् पर ही आता है। 'चाणक्य' ने यही सब किया था, समर्थ रामदास ने भी यही किया। शुक्र, बृहस्पति, आदि भी सक्रिय राजनीति का प्रवर्तन करते थे। हाँ विद्वान् राज्याधिकार के प्रलोभन में न पड़ें, यह ठीक है। अतः ठीक राजनीति बिना त्रयी एवं तत्प्रोक्त धर्म संकटग्रस्त हो जाता है।

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वा परिददे प्रजाः॥
(मनुस्मृति ९।३२७)

प्रजापति ने सृष्टि रच कर वैश्यों को पशु दिया, ब्राह्मण एवं राजा को सारी प्रजा दी। अतः राजा के अभाव में विद्वानों पर सर्वाधिक भार आता है। विद्वान् आस्तिक, सद्गृहस्थ एवं साधु सत्पुरुषों के बिना राजनीति सर्वथा उच्छृङ्खल लोगों के हाथ चली जाती है फिर तो गुंडागर्दी का ही शासन होने लगता है। अतः धार्मिक लोगों के प्रवेश से ही समस्या हल हो सकती है। यह ठीक है कि सच्छिक्षा एवं सद्विद्या के प्रचार से सद्बुद्धि होती है, सद्बुद्धि से सदिच्छा एवं सदिच्छा से सत्प्रयत्न होता है और सत्प्रयत्न ही

सब प्रकार के सत्फलों का स्रोत होता है परन्तु आज तो शिक्षा भी स्वतन्त्र विद्वानों के हाथ में नहीं है। जिस विचार के शासक हैं, उसीविचार का समर्थन करने वाली आज की शिक्षा बनती जा रही है। स्वतन्त्र विद्वान्, स्वतन्त्र विद्यालय एवं उनके छात्र भी सरकारी-शिक्षा के प्रभाव से स्पष्ट ही प्रभावित हैं। कथावाचक; मण्डलेश्वर आदि भी उसी ढ़ंग की कथा करने में लाभ का अनुभव करते हैं। घोर नास्तिक उच्छृङ्खल मिनिस्टरों, सरकारी पदाधिकारियों की भी विद्वान्, महन्त, मण्डलेश्वर प्रशंसा करते फिरते हैं। इस दृष्टि से नास्तिकों के हाथ से राजनीति का उद्धार करने योग्य धार्मिक, सुशील लोगों के हाथ में राजनीति लाने क लिए विद्वान का प्रत्यन अत्यावश्यक है ही। महाभारत का स्पष्ट वचन है—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात प्रवृत्तः
पश्चादन्ये शेष भूताश्च धर्माः ।।
(महा० शा० ६४/२१)

परमेश्वर से ही सर्वप्रथम राजधर्म का ही आविर्भाव हुआ। उसके पीछे राजधर्म के अङ्गभूत अन्य धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। अत: राजधर्म — राजनीति नष्ट होने पर त्रयी धर्म के डूब जाने की बात आती हैं। अराजकता या उच्छृङ्खल राजाके धर्महात अधार्मिक राज्य में कोई धर्म पनप ही नहीं सकता। ब्यक्ति समाज राष्ट्र तथा विश्व के लौकिक पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस के सम्पादन में होने वाले सब प्रकार के विघ्नों को रोककर सब प्रकार की सुविधा उपस्थित करना भारतीय राजधर्म, राजनीति या क्षात्र धर्म का मूलमन्त्र है।

भले ही कभी राजनीति राजाओं, राजमन्त्रियों एवं राजकीय

पुरुषों तक ही सीमित रहे. उसमें सर्वसाधारण का प्रवेश आवश्यक भी न ठहरे; तब भी विशिष्ट विद्वानों के लिये तो कभी भी राजनीति उपेक्ष्य नहीं रही है। व्यक्ति समाज राष्ट्र तथा विश्व को लौकिक-पारलौकिक विनाश से बचाना उनको अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्तिसे वंचित होने से बचाना क्षात्र या राजा का धर्म है ' वही क्षात्र धर्म है वही राजनीति है। इसीलिए राजा की प्रशंसा है -

'नराणां च नराधिपम्' (गी० १०।२७)
'नाविष्णुः पृथ्वीपतिः' दे० भा०)
'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'।।
(मनु० ७।८)

राजा ईश्वर रूप है, नरों में नराधिप ईश्वरीय विभूति है, विष्णु से अतिरिक्त पृथ्वीपति नहीं हो सकता, वह कोई मनुष्य रूप में दिव्य विशेष शक्ति है इत्यादि,। इस प्रकार के राजधर्म का पालन श्रुताध्ययन सम्पन्न धर्मज्ञ, सत्यवादी राग-द्वेष विहीन विद्वानों की सहायता बिना राजा भी नहीं कर सकता। इसीलिए राजा के लिये आवश्यक है कि वह ऐसे विद्वानों को अपना सभासद बनाये—

श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञा सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः।।
(याज्ञवल्क्यस्मृति २।२)

शासनारूढ़ शासक की भूल या प्रमाद को रोकने के लिये परम निरपेक्ष विरक्त विद्वान भी लोक कल्याण कामना से राजनीति में हस्तक्षेप करते थे। इतना ही नहीं कभी-कभीतो वेन जैसे अन्यायी राजा को जो समझाने-बुझाने से भी न माने, शासनाधिकार से च्युत या नष्ट भी कर देते थे एवं उनके स्थान में पृथु

जैसे योग्य शासक को प्रतिष्ठित करते थे। यह भी लोक कल्याणार्थ विद्वानों के राजनीति में हस्तक्षेप का उदाहरण है। इतिहास बतलाता है कि संसार के प्रमुख राजनीतिज्ञ शासकों ने अपनी राजनीति की बागडोर तपःपूत, लोक-हितैषी, राग-द्वेष विहीन ऋषियों के ही हाथ में दे रक्खा था। देवराज इन्द्र की राजनीति देवगुरु बृहस्पति के हाथ में थी, दैत्यराज बलि की राजनीति महर्षि शुक्राचार्य के हाथ में थी तथा रामचन्द्र की राजनीति वसिष्ठ के हाथ में थी। धर्मराज युधिष्ठिर की राजनीति धौम्य व्यास कृष्ण विदुर आदि के हाथ में थी। चन्द्रगुप्त की राजनीति महर्षि चाणक्य के हाथ में थी तथा शिवा की राजनीति भी समर्थ रामदास के हाथ में थी। वस्तुतः जैसे बिना अङ्कुश के हस्ती, बिना लगाम के घोड़ा आदि हानिकारक होते हैं, वैसे ही अङ्कुश एवं नियन्त्रण के बिना शासन भी हानिकारक होता है। राज्यश्री सम्पन्न राजा पर भी अङ्कुश होना ही चाहिए। इसी अर्थ में राजा पर धर्म का नियन्त्रण होना चाहिए। यही बृहदारण्यक 'क्षत्रस्य क्षत्रम् (१/४/१४) के अनुसार धर्मनियन्त्रित राजतन्त्र का सिद्धान्त है। धर्म-कर्म, संस्कृति धर्म संस्था की रक्षा तभी हो सकती है, जब धर्म-नियन्त्रित शासक हो। अन्यथा उच्छृङ्खल शासक सबको ही चौपट कर देता है।

सत्पुरुषों से आग्रह

कुछ लोग कहते हैं कि उपसना या ज्ञान तो मन की चीज है। सब कुछ गड़बड़ होने पर भी महात्मा या विद्वान् को इन टंटो से दूर रह कर भजन ही करना चाहिए। ठीक है, परन्तु शास्त्र एवं धर्म-स्थान नष्ट हो जाने पर विद्वानों या महात्माओं का शण्डामर्क

के तुल्य सरकारीकरण होजाने पर भजन करने का, धार्मिक होनेका मन भी कैसे बन सकेगा ? आखिर धार्मिक, आध्यात्मिक भावनाओं से ओतप्रोत मन भी तो शास्त्रों एव सत्पुरुषों की कृपा से ही बनता है। बिना शास्त्रादि के वैसा मन भी नहीं बन सकता है। यदि प्रह्लादने भी यही सोचा होता कि चलो पितासे विवाद कौन करे ? मन में ही रामनाम जपते रहेंगे ऊपर से पिता की ही बात मानलें तोआज कोई रामनाम लेनेवाला रह सकता था ? परन्तु जब सच्चाई के साथ प्रह्लाद ने अपने जीवन को संकट में डालकर भी सिद्धान्त की रक्षा की, तभी संसार में सिद्धान्त की स्थिरता रह सकी है। इस तरह विद्वान् एव महात्मा राजतन्त्र शासन में भी राजनीति में हस्तक्षेप करते थे, फिर अब तो जनतन्त्र शासन है। इस सिद्धान्त के अनुसार तो शासन की सर्वोच्च सत्ता जनता मैं ही निहित होती है। अत: वास्तविक राजा जनता ही होती है, अत: राजनीतिक दक्षता सम्पादन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है; फिर तो जनता के धन एव धर्म की रक्षा का उत्तरदायित्व जनता पर ही होता है। इसलिए जनता के प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है कि वह उदारता, गम्भीरता और दक्षता के साथ राष्ट्र एव धर्म का हिताहित देखकर कर्तव्य का निर्धारण एवं पालन करे। जहां न राजतन्त्र हो, न जनतन्त्र हो, किन्तु अधिनायक तन्त्र डिक्टेटरशिप हो, वहाँ पर तो कोई विशिष्ट दक्ष राजनीतिज्ञ विद्वानों एवं महात्माओं के सिवा दूसरा कोई कुछ कर ही नहीं सकता है। जनता का संग्रह, उसे प्रोत्साहन देना एव क्रान्ति के लिए उसे तैयार करना भी राजनीतिज्ञों के ही वश की बात है। ऐसे समय मैं धर्म एवं धर्मशास्त्रों की रक्षा के लिए विद्वानों को सामने आना पड़ता है। इसी अभिप्राय से

कहा गया है कि—

स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे द्विजाः।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं भवेत्॥
(सूत संहिता ज्ञानयोग खं २०/५४)

विद्वानों को वैदिक-धर्म की स्थापना के लिए सुदृढ़ प्रयत्न करना चाहिए। वैदिक-धर्म के स्थिर होने पर सब कुछ स्थिर हो जायगा। यहीं यह भी कहा गया है कि जो समर्थ होने पर भी सर्व प्रकार से धर्म रक्षार्थ प्रयत्नशील नहीं होता, वह पाप का भागी होता है। माता-पिता के. गुरुजनों के या जनसमूह के धन-धर्म एवं प्राणों का विनाश हो रहा हो, कोई समर्थ पुरुष बैठे बैठे तमाशा देखे, कुछ प्रयत्न न करे, यह प्रत्यक्ष ही पाप है—

यश्च स्थापयितुं शक्तो नैव कुर्याद् विमोहितः।
तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः॥
(सूतसंहिता २।२०।५५)

किन्तु समर्थ न होने पर भी जो यथाशक्ति धर्मशास्त्र-मर्यादा की रक्षा के लिए प्रयत्न करता है वह उसी पुण्य के प्रभाव से सब पापों से मुक्त होकर सम्यक् ज्ञान का भागी होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यम कहे जाते हैं। यह निवृत्तिमार्गानुसारियों के लिए बड़े ही महत्व के हैं। शौच, संतोष, स्वाध्याय आदि में कुछ गड़बड़ी क्षम्य भी हो सकती है, परन्तु यम के सेवन में तो पूर्ण तत्परता होनी चाहिए। इसी लिए कहा गया है—'यमान् सेवेत सततं नियमान् मत्परः क्वचित् (श्रीमद्भा०) यमों का सेवन सर्वदा ही करना चाहिए। नियमों

में सातत्य न होने पर भी काम चल सकता है, अहिंसा आदि का अभिप्राय है- मनसा-वाचा, कर्मणा, प्राणि रक्षण, प्राणियों को पीड़ा न पहुचनां। यही लोक-रक्षण, प्राणिरक्षण, धर्मरक्षण राजनीति का मुख्य लक्ष्य है, यही क्षत-त्राण है। इसी कारण महात्माओं की इन कार्यों मैं प्रवृत्ति होती थी, कालकवृक्षीय जैसे अरण्यवासी, चाणक्य जैसे बालब्रह्मचारी, समर्थ स्वामी जैसे निवित्तनिष्ठ लोग भी इस काम मैं संलग्न हुए। फिर भले हो इस काम में सफलता मिले अथवा न मिले, समुचित प्रयत्न कभी निष्फल नहीं होता। उसका अदृष्ट फल तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता तभी तो भगवान कृष्ण ने कहा था—

> यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सन्।
> सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग् ज्ञानमवाप्नुयात॥
>
> धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
> प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥
>
> (महा० उद्यो० ६३।६।७)

इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान दुखसर पर जब कि जनता के धन-धर्म पर सकट उपस्थित है, विशिष्ट विद्वानों महात्माओं तथा धार्मिक सद्गृहस्थों को भी राजनीति से न डर कर आगे आना चाहिए और धर्म-रक्षण के लिये जो भी आवश्यक कार्य हो करना चाहिए। परिणाम निश्चयेन शुभ-मङ्गलमय ही होगा। शिवमिति दिक्।

✻